# प्रथम अध्याय

## वेदना का स्वरुप

वेदना एक मानसिक स्थिति है, जिसमें व्यक्ति के दुख और पीड़ा की अभिव्यक्ति उसके भावों के माध्यम से होती है। दुख मानव हृदय में तलश्पर्शी एवं द्रवणशील अनुभूति प्रदान करता है तथा वह गंभीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। करुण, भयानक आदि रसों के द्वारा सहृदयों में दुखद दशा उत्पन्न होती है। और यही दुख काव्य में वेदना कहलाता है जो प्रेक्षक को सहानुभूतिपूर्ण संवेदना प्राप्त कराता है। करुण रस का स्थायी भाव शोक दुखदायी और कटु होता है, जो सहृदयों में संवेदना उत्पन्न करता है और वेदना की अनुभूति स्वतः होने लगती है। वेदना एक विदग्ध हृदय की करुणा है, पीड़ा का चरमोत्कर्ष है और विरह की तीव्रता है।

हिन्दी साहित्य में वेदना विशद रुप में वर्णित हुई है। यह वेदना व्यक्तिगत भी है और समाजगत भी। व्यक्ति के रुप में दुःख झेलना और फिर उसी दुःख को समाज में देखकर उसकी अभिव्यक्ति करना रचनाकार का धर्म और उद्देश्य बन जाता है। हिन्दी साहित्य में वेदना का स्वरुप कई रुपों में अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु वेदना का मुख्य रुप विछोह और वियोग की स्थिति है। वाल्मीकि ने क्रौच पक्षी के वियोग को देखकर रामायण की रचना कर डाली, गौतम बुद्ध ने जब संसार के दुःख और कष्ट देखे तो वे सत्य और मोक्ष की प्राप्ति के लिए निकल पड़े। गौतम बुद्ध, तुलसी, कबीर, मीरा, ज्ञानेश्वर इन सबके जीवन का दुःख और पीड़ाएँ ही उनके रचनाकर्म में प्रेरक शक्ति बन गये। कबीर के काव्य में जो वेदना है वह सांसारिक न होकर आध्यात्मिक है। लेकिन वे वेदनाएँ भी विरह जन्य हीं है जो कबीर को राम के विरह से व्यथित करती है। बड़े कवि जिस द्वन्द और विषमता की अनुभूति का चित्रण करते हैं, उस जीवन से मुक्त जीवन का स्वप्न भी अवश्य ही दिखा

देते हैं। यही अनुभूति की प्रामाणिकता है। तुलसी ने जिस दुःख - द्वन्द का अनुभव किया, साहित्य में उन दुःखों से मुक्ति राम-राज्य का स्वप्न दिखाया। कबीर ने विषम परिस्थितियों और तद्जनीन दुःखों से मुक्ति के लिए तीखे दंश और प्रखरता का मार्ग चुना। शेक्सपीयर की त्रासदीपूर्ण रचनाएँ कहीं-न-कहीं नई व्यवस्था को संकेतिक करती हैं। संत ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी का उत्स उनके दुखी जीवन में हीं ढूँढ़ा जा सकता है।

इन सभी व्यक्तियों ने वेदना को अपने जीवन की शक्ति बनाया उससे ऊर्जा ग्रहण की, दुःख से वे टूटे नहीं, विखरे नहीं बल्कि जनहित के लिए समर्पित हो गये। दुःख तो मानव जीवन का अटूट और अभिन्न अंग है। दुःख प्रायः मनुष्य को तोड़ देता है असफलता की ओर ढ़केलता है, पर ऐसा तब होता है जब व्यक्ति दुःख को अपनी कमजोरी बना लेता है; किन्तु जब उसी कमजोरी को अपनी शक्ति बना लिया जाय तो वह सृजन बन जाता है। रचनाकार व्यक्तिगत दुःखों के महिमामंड़ित करने के स्थान पर अपनी संवेदना का विस्तार करते हुए दूसरों के दुःखों को कम करने का प्रयास करता है, क्योंकि जब वह संसार के दुःखों को देखता है तो उसे अपना दुःख कम लगने लगता है। यह सच ही है कि दुःखो की तपिश मनुष्य के जीवन में और अधिक तराश और निखार ले आती है। अज्ञेय ने कहा है -- 'दुःख सबको माँजता है।' (अज्ञेय)

## (अ) (क) **मूल भाव सुख और दुख**

सामान्यतः भाव का शाब्दिक अर्थ है स्थिति या वृत्ति। मनुष्य के हृदय में वाह्य जगत् की संवेदना के कारण कुछ विकार उत्पन्न होते हैं जो मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। "मूल भाव दो ही हैं -- सुख और दुख। इन्हीं दोनों भावों को दूसरे शब्दों में राग और द्वेष भी कहा जाता है। जीवन में ये दोनों भाव किसी न किसी रुप में सदैव विद्यमान रहते हैं, और ये दोनों भाव कई भावनाओं के संश्लेषण के परिणाम हैं जो हृदय में वृत्ति चक्र की तरह उठते रहते हैं। डॉ0 भगवान दास ने सुख और दुख को आत्मा की मात्रा माना है।"1

इसको इस तरह भी समझा जा सकता है कि इन दोनों का संबंध आत्मा के रुप की अपेक्षा परिणाम से ज्यादा होता है और इस प्रकार आत्मा के जीवन और उसके प्रदर्शन से ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीनों वृत्तियों के साथ वे संबंध रखते हैं। आत्मा की वृद्धि, विस्तार और उसके आधिक्य का भाव सुख और उसका ह्रास, संकोच और अल्पता दुख है। मनुष्य अपनी चेतना की वैयक्तिक स्थिति में या तो सुख का अनुभव करता है या दुख का, सुख की स्थिति में मनुष्य का शरीर विकसित तथा भारी रहता है, शरीर में स्फूर्ति होती है और दुख की स्थिति में इसके विपरीत शरीर में लघुत्व, संकोच तथा आलसीपन होता है। जीवन की प्रायः हर घटना में सुख दुख की स्थिति अपना प्रभाव डालती है। मनुष्य का जीवन सदा एक सरल रेखा में नहीं चलता कभी इसमें संसार के अलग-अलग व्यापारों से घात-प्रतिघात लगते रहते हैं, और उन घात-प्रतिघातों के कारण हीं भावों का रुपान्तरण होता रहता है और भावों के उत्थान पतन के कारण हीं जीवन में सुख और दुख आते रहते हैं। यदि सुख सुख है और दुख दुख है तो इनमे राजा और रंक का भेद मिट जाता है। किसी प्रियजन का वियोग वास्तव में एक संवेदनीय वियोग है और ऐसा है तो संसार का समस्त वैभव भी उस वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता।

## (ख) आलम्बन के विचार से भावों का रुपान्तरण

सुख और दुख से उद्‌भूत राग तथा द्वेष, आश्रय और आलम्बन के विचार से मनोविकारों के कई रुपों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये रुपान्तरण केवल स्वरूप में हीं नहीं होता बल्कि अलग-अलग मूल रूप में भी होते हैं। जीवन में राग और द्वेष ये ही मूल तत्व हैं। इन्हीं दो तत्वों से हृदय में अगणित भावों की उत्पत्ति होती है। "साहित्य शास्त्र की रस पद्धति भी इन्हीं दो तत्वों पर अवलंबित है। जीवन व्यवहार में मनुष्य की विशिष्टता, समानता और हीनता के अनुसार इन तत्वों में भी मौलिक परिवर्तन देखे जाते हैं। विशिष्ट के प्रति राग, सम्मान हो जाता है, समान के प्रति तथा हीन के प्रति करूणा। द्वेष तत्व भी इसी प्रकार विशिष्ट के प्रति - भय, समान के प्रति क्रोध तथा हीन के प्रति दर्प

के रूप में परिवर्तित होता है। आलंबन की भिन्नता के कारण राग और द्वेष भावों के उपर्युक्त रूपान्तरों की बात यद्यपि विचित्र लगती है फिर भी यही वास्तविकता है।"2 जीवन के विविध क्षेत्रों में भावों में स्पष्ट परिवर्तन देखे जाते हैं। आलंबन की भिन्नता के अतिरिक्त आलंबन या उसकी समानता के प्रति भी आश्रय के हृदय में विरोध सम्पन्न भाव भी जन्म लेते हैं।

अधिकांश जीवन परिस्थितियों के आघात को सहन नहीं कर पाते वे विचलित होकर इधर उधर भटक जाते हैं। परिस्थितियों की विषमता में भी जो दृढ़ता रखता है, वही संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। काव्य का उत्कर्ष इसी प्रकार के जीवन वर्णन से होता है। मनुष्य के हृदय में गर्व और नम्रता, पाप और पुण्य, कर्कशता और कोमलता, निष्ठुरता और करूणा का समावेश कर उसके मूल की स्वाभाविकता दिखलाने से जीवन के रहस्य का बहुत कुछ उद्‌घाटन हो जाता है। कभी-कभी एक ही स्थिति में एक ही आश्रय में भावों का ऐसा विपरीत अंतर्विरोध आता है जो प्रत्यक्ष रुप से अस्वाभाविक होता है, किन्तु भावुक कवि इस अंतर्विरोध के मूल को भी आलंबन के अनुबंध ज्ञान से ऐसा स्पष्ट करता है कि वह सजीव और स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है। संकल्प के साथ कर्त्तव्य के युद्ध का वर्णन करना दार्शनिक कवि का काम है। घृणा भाव के निकट ही प्रेम तत्त्व को दिखलाना काव्य की विशिष्टता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जीवन में सर्वत्र विपरीत भावों का समावेश ही दिखाया जाय। भावों का स्वाभाविक परिवर्तन और गति क्रम को प्रकट करना कला का सच्चा उद्देश्य  है। मनुष्य के जीवन में ऐसी स्थिति भी आती है जब भावों का समुद्र उमड़ता है, पर उसको संयत रखकर उसके सौन्दर्य से जगत को प्रभावित करना एक सच्चा कलाकार ही जानता है। जहाँ जीवन के उच्चतर तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है, वहाँ मानवता सामान्य रुप में सिमट जाती है। और उसकी सारी विविधताएँ मिट जाती है। रघुवंश के इन्दुमती के देहान्त पर अज का विलाप एक सामान्य पुरुष का विलाप है, किसी राजा का नहीं। कुमारसंभव में, मदन दहन के उपरांत रति का विलाप एक सामान्य स्त्री का विलाप है क्योंकि भावों की सत्ता में व्यक्तित्व की विशेषताएं

डूब जाती हैं और राजा रंक के भावों में भेद नही रह जाता। इस प्रकार के वर्णन में कवि का उद्देश्य मूल भावों का विन्यास दिखाना होता है। वैयक्तिक विशेषता एक उपलक्ष्य मात्र रहती है और वर्णन उसका प्रधान विषय हो जाता है। यही कारण है कि कोई भी विधुर पुरुष अज के स्वर में स्थिति की अनुरुपता पर विलाप कर सकता है, और कोई भी वैधव्य ग्रस्ता नारी रति की तरह रो सकती है। काव्य में भावों के ये विन्यास सामान्य जीवन को स्पर्श करते हुए चलते हैं, यदि ऐसा नही होता तो काव्य काव्य न होकर कुछ और ही होते।

## (ग) भाव की प्रकृति और जीवन में उसका स्थान

भाव की साधारण स्थिति तथा उसके आवेग में अंतर स्पष्ट है। भाव के बार-बार उत्तेजित होने पर भी अगर उसके अनुसार कार्य न किया जाय और चित्त को शांत कर दिया जाए, तो धीरे-धीरे कुछ दिनों के बाद वह भाव निष्क्रिय हो जाता है। भाव की प्रेरणा के अनुसार कार्य न करने पर हृदय अपमानित होकर उस वृत्ति को ही छोड़ देता है। किसी दुखी के दुख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उस करुणा की प्रेरणा के अनुसार दुखी की सहायता न की जाए, तो एक दिन वह समय भी आयेगा जब किसी के दुख को देख कर करुण भाव उत्पन्न ही न होगा और उस भाव के लिए हृदय जड़ हो जायेगा। किसी दृश्य को देख कर हृदय में भावावेग उत्पन्न होता है और उसके अनुसार कार्य करते रहने पर मनुष्य की प्रकृति में वह एक स्थान प्राप्त कर लेता है। रास्ता चलते हुए पागल पर बच्चे पत्थर फेकते हैं, और स्वभावतः उसे तंग किया करते हैं। इससे पागल कुढ़ता है, झुँझलाता है और क्रोध करता है। बार - बार ऐसा होने पर और बच्चों द्वारा ऐसा किया जाने पर जब भी कभी वह अपने आसपास लड़कों के झुण्ड को देखता है तो वह क्रोध के भावावेग में आ जाता है। मानव प्रकृति की यह विशेषता है कि वह भाव स्थिति या उसके आवेग के कारण ही किसी कार्य की ओर प्रेरित नही होती , बल्कि अचेतन रुप में भी स्वभावगत रुप से किसी कार्य की ओर प्रेरित हो जाती है। संसार में

जितनी वस्तुएँ हैं उनसे मूर्ख और विद्वान दोनों ही अपने-अपने ढ़ंग से हर्ष और विषाद ग्रहण करते हैं। व्यावसायिक उपयोगितावाद की इस दुनिया में विषादोत्पादक वस्तुओं से भी आनंद का कुछ-न-कुछ रस निचोड़ा जा सकता है। जीवन के साथ विषाद का सम्बन्ध भी उतना ही गहरा होता है जितना आनंद का। स्थायी आनंद वृत्ति जब जीवन और जगत के परिस्थिति से जग्रत होता है तो प्रफुल्लता होती है और विषाद वृति में झुंझलाहट ऐसे मनोभाव अपनी मूल वृत्तियों को सूचित करते हैं मनुष्य जब जिस स्थिति में रहता है तब वह साधारणतः स्थिति की गम्भीरता के कारण उसी स्थिति में निमग्न रहता है। इस निमग्नता को जब कोई तोड़कर उसे उस स्थिति से हटाना चाहता है तो वह बार-बार उसी भाव में डुबे रहने की चेष्टा करता है। जबतक उसमें उस स्थिति में रहने की शक्ति शेष न रह जाती तब तक वह उसी स्थिति में बना रहता है।

सहृदय मनुष्य में भावों की सभी वृत्तियाँ रहती है। सहृदयता अर्थ केवल सहानुभूति-पूर्ण हृदय ही नही, बल्कि हृदय की जितनी वृत्तियाँ हैं सबकी स्थिति है। क्रोध के अवसर पर क्रोध करना करुणा के अवसर पर सहानुभूति दिखाना सच्ची सहृदयता है। मनुष्य के चित्त का स्पन्दन जिस प्रकृति का होता है उसी प्रकृति का जीवन और भाव बनता है। बहुत से भाव ऐसे होते हैं जो एक बार जग जाने पर देर तक संयत नही हो पाते। निर्बल मानसिकता वाले व्यक्ति कभी-कभी भावों को मानसिक न रखकर शारीरिक क्रिया द्वारा अभिव्यंजित करते हैं। जिस प्रकार कोई बच्चा जब किसी घटना का वर्णन करता है तो उसके वर्णन में शब्दों में अधिक अंगों की क्रिया देखी जाती है। जिस प्रकार के भाव होते हैं हृदय में स्थान पाते ही वे अपने अनुरुप क्रिया करने पर मनुष्य को विवश करते हैं। जिस प्रकृति का भाव होता है वह तत्काल ही अपने प्रभाव को व्यंजित करता है। हँसने लायक बातें सुनकर मनुष्य तत्काल ही हँसता है, उसी प्रकार शोक की बाँतें सुनकर दुखी भी होता है। दो चार घंटे बाद अपने भाव को व्यंजित करने के लिए अपने को संयत नहीं रख सकता। यह दुसरी बात है कि उन्हीं बातों को याद करने अपने भावों को बार-बार अभिव्क्त करे। किन्तु पहली बार उस बात का प्रभाव पड़ता ही है। इसी प्रकार,

किसी-न-किसी प्रकार का भाव अपनी सत्ता को प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। यह और बात है कि बहुत से धूर्त्त-चालबाज ऐसे भी होते हैं जो अपने भावों को छिपाने में कुछ हद तक सफल हो सकते हैं किन्तु इसके लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रकार के प्रयत्नों से बाह्य अभिव्यक्ति को तो दबाया जा सकता है किन्तु अंतर्जगत् में उसके संस्कार को नष्ट नहीं किया जा सकता है। और यह उसी दशा में सम्भव है जब उस व्यक्ति में उस तरह के भाव या वृत्तियाँ कुंठित हो चुकी हो। कभी-कभी कुछ गंभीर व्यक्तियों में यह देखा जाता है कि छोटे - छोटे भाव उनकी मानसिक स्थिति को बदलने में समर्थ नहीं हो पाते ऐसा इसलिए होता है उनकी गंभीरता उस भाव से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी और व्यापक होती है।

भावों की सूक्ष्मता पर गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि भावों को शक्त और अशक्त इन दो रुपों में वर्गीकृत किया जा सकता है। क्रोध, उत्साह, साहस आदि शक्त भाव हैं और करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि अशक्त भाव। उच्चादर्श जीवन का निर्माण केवल शक्त भावों के द्वार नही हो सकता, यथार्थ जीवन की सार्थकता के लिए अशक्त भावों का अवलंबन होना भी आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति किसी के दुख को देखता है तो उसके हृदय में चोट पहुँचती है और वह उस चोट को दूर करने के लिए उसका उपकार करता है। यदि किसी के दुख को देखकर मनुष्य के हृदय में संवेदना ही न हो तो वह उपकार करने के लिए प्रेरित ही न होगा, इस प्रकार मनुष्य वास्तव में अपने दुख को दुर करने के लिए ही परोपकार, दया, क्षमा, कृपा करता है। संसार के सभी व्यापारों के लिए संवेदना प्रधान है। इसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। जब कभी व्यक्ति दूसरों की धारणा के अनुसार अपने को अशक्त समझ बैठता है तो वह दुखी होता है तब अपनी इस अशक्तता को दूर करने के लिए पूरी चेष्टा करता है। संसार में ऐसे लोग भी देखे जाते हैं जो दूसरों की धारणा को भ्रम प्रमाणित करने के लिए दुस्साहस पूर्ण कार्य कर बैठते हैं। यह भाव दूसरों की दृष्टि में अपने को कम समझना ही है। अपने को कम या उच्च समझने की भ्रमपूर्ण भावनाओं से मनुष्य के जीवन की दिशाएँ प्रायः बदल

जाया करती है। मनुष्य के हृदय में अपने संबंध में जो भी संवेदना उठती है उसी के अनुसार उसके जीवन का निर्माण होने लगता है। मानव हृदय भावों का संतुलन बनाए रखने की चेष्टा करता है। जीवन में जब बंधन आता है, गति में अवरोध उत्पन्न होता है, तब भावों की क्रिया उसे तोड़ने का प्रयत्न करती है। मनुष्य जैसा है, जिस स्थिति में है वैसा कहने पर वह प्रसन्न नही होता जितना वह है उससे बड़कर कहने पर उसे प्रसन्नता होती है। अतः जो वह नही है वही बनने या समझे जाने की भावना से वह प्रसन्न होता है। इस प्रकार की भावना के कारण ही प्रसन्नता की चाट पाकर वह खुशामद पसंद और न पाकर आत्मप्रशंसी बन जाता है। कल्पना के माध्यम से तृप्ति मिलने के लिए वह अपने मुख से अपनी प्रसंसा करता है। इस प्रकार के मनुष्य की तर्क शक्ति मारी जाती है और वे अपने उपर कहे गये व्यंगों को समझने में असमर्थ होते हैं। जीवन की दिशा बदलने में भाव बड़ा महत्व रखता है। जीवन की प्रकृति भाव और विचार की सत्ता से भिन्न नही है। उच्च भाव और विचारों से प्रेरित होकर कर्म करने वाले व्यक्ति ही महापुरुष कहलाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जीवन की उच्चता या नीचता का विचार भावों की क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिसके हृदय में भावों की सच्चाई है, उच्चता है वह प्रतिभा सम्पन्न न होने पर भी अपने जीवन की एक मर्यादा रखता है। यदि किसी के हृदय में चोरी करने का भाव है, तो सिर्फ भाव होने के कारण ही वह राज नियम के अनुसार दंडनीय नहीं जो जाता, परंतु धर्म नियम के अनुसार तो वह अपराधी हो ही जाता है। यह भाव यदि उसके हृदय में जम गया है तो उसके जीवन के सारे कर्म उसी से प्रेरित होंगे। सुविधा मिलने पर वह चोरी कर सकता है। इस नियम के अनुसार पहले भाव और फिर कर्म के लिए मनुष्य प्रयत्नशील होता है।

### (घ) वेदना : एक भाव

काव्य सर्जन में जो मूल विधायक तत्त्व स्वीकार किए गये हैं भाव उनमें से एक है। यही भाव कवि जीवन से और सामाजिक जीवन से भी सम्बन्ध रखते हैं। कवि जीवन और

सामाजिक जीवन में दुख और पीड़ा की स्थिति आती है मनुष्य जीवन की यही पीड़ा काव्य में वेदना के रुप में प्रस्फुटित होती है। मनुष्य के हृदय में संसार की संवेदनाओं के कारण कई प्रकार के विकार आते रहते हैं जो मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। मूल रुप से भाव दो ही प्रकार के होते हैं - सुख और दुख। मनुष्य के हृदय में जो कई प्रकार के संश्लेषित भाव उत्पन्न होते हैं उनमें से वेदना भी एक है, जो दुखात्मक स्थिति से उत्पन्न होता है।

भाव वह है जो भावित करे अर्थात सहृदय के चित्त में व्याप्त करने वाला तत्त्व बताया गया है। यहाँ भावों का आशय उन तत्त्वों से है जो काव्यार्थ सहृदय के चित्त में व्याप्त करते हैं। "इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है - (1) व्यापक रूप सम्पूर्ण रसव्यंजक सामाग्री क् अर्थ जिसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी सभी अन्तर्भूत हैं। (2) काव्यगत स्थायी, संचारी और सात्त्विक भावों अर्थात मानसिक-शारीरिक अनुभूतियों के अर्थ में, (3) अनुपचित स्थायी या उपचित संचारी भाव के अर्थ में । इनके अतिरिक्त दो प्रयोग और मिलते हैं -- (4) सामान्य मनोवेग के अर्थ में और (5) कवि की सर्जक अनुभूति (कवेरन्तर्गतं भावम) के अर्थ में, किन्तु इन दो में से पहला अपरिभाषिक लौकिक प्रयोग है और दूसरा अत्यंत सीमित। उपयुक्त पाँच अर्थों में से दूसरा अर्थ ही व्यापक रूप में प्रचलित हुआ है - और उसमें भी सात्त्विक भावों को अनुभावों में अन्तर्भुक्त कर दिया गया -

**पृथग् भावाः भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः** ( दशरुपक, पृ. 124,4.4)"3

अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में भाव का अर्थ है काव्यगत मनोविकार - ये लौकिक मनोविकारों से निश्चय ही भिन्न होते हैं किन्तु फिर भी इनका आधार लौकिक मनोविकार ही है। इसलिए काव्यशास्त्रीय अथवा काव्.गत भाव की व्याख्या लौकिक भावों के आधार पर की जा सकती है।

भाव मुलतः दो ही है सुख और दुख, यह स्पष्ट हो जाने के बाद हम देखते हैं कि  पीड़ा से दुख की अनुभूति होती है। सुख या दुख की मूल अनुभूति ही विषय की विभिन्नता के आधार पर अलग-अलग भावों का रुप धारण करती है। यदि शरीर में किसी तरह की वेदना या पीड़ा हो तो दुख की अनुभूति होगी। हमें पता है कि कइ प्रकार के मनोविकार मिलकर भावों के रुप में अभिव्यक्त होते हैं। मनोविकार और भावों की अनुभूतियाँ सुख या दुख की अनुभूतियों के मिश्रण के वावजूद एक दूसरे से भिन्न ही होती है। विषय की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार ही मनोविकारों की भी विभिन्नता देखी जाती है। हानी या दुख के समय जब हमें उस स्थिति का ज्ञान होता है जिससे हानी या दुख पहुचने की सम्भावना हो तो सिर्फ दुख नामक मूल भावना से ही हमारा काम नहीं चल सकता बल्कि उसके साथ जटिल भावों की भी आवश्यकता होती है जैसे क्रोध।

किसी प्रिय जन के दुख को देख कर मन में पीड़ा या वेदना होती है। किसी के दुख को देख कर दुखी होने का नियम जितना व्यापक है, उतना किसी के सुख को देख कर सुखी होने का नहीं। वेदना तभी होती है जब हम किसी के दुख को देखते हैं यह और बात है कि उस वेदना की अधिकता आश्रय के साथ हमारे सम्बन्ध पर न्भर करती है। जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है उसके दुख से हमें अवश्य अधिक करूणा होगी। किसी अपने भाई, बन्धु के दुख को देखकर अधिक करूणा, व्याकुलता होती है और वेदना की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। वेदना या पीड़ा की अनुभूति दूसरों की वेदना या पीड़ा से ही उत्पन्न होती है, जैसे हम किसी को कषट से कराहते हुए देखते हैं तो उसकी पीड़ा की अनुभूति स्वंय भी करने लगते हैं और व्थित होते हैं। इसी अनुभव की तीव्रता के कारण इसे मनोविकार की श्रेणी में माना जाता है।

"वेदना जबतक अनुभूत नहीं होती तबतक उसको दूर करने की चेष्टा मन में नही उठती। जीवन में आनंद है इसलिए हम दुख या विषाद की स्थिति को हटाकर उस आनंद को बचाए रखने का प्रयास करते हैं। मन के विश्राम की स्थिति में जो ओज संचित

रहता है और उससे जितनी देर तक आनंद लिया जा सकता है, विषाद उससे कम समय में ही सारे ओज को आत्मसात कर लेता है।"4 क्योंकि किसी वस्तु के निर्माण में जितना समय लगता है वह नष्ट उससे कम समय में हो जाता है। मन में कितना भी आनंद हो विषाद की छाया मात्र से वह नष्ट हो जाता है। विषाद का हल्के से हल्का आभास भी हमें विचलित और व्यथित कर देता है।

मन की साधारण स्थिति में हम किसी की मनोरंजक बातों को सुनकर प्रसन्न होते हैं, किन्तु हमारी मानसिक स्थिति में जब कोई असाधारण दुखद परिवर्तन हुआ रहता है, तब हम कोई मनोरंजक बात को सुनकर भी प्रसन्न नहीं होते अपितु झुँझला उठते हैं। ऐसी स्थिति में हमें अच्छे से अच्छा संगीत भी वेदना ही देता है, उससे हमारा मनोरंजन नही होता। इसका कारण है कि हम जिस स्थिति में रहते हैं उसी स्थिति में स्वंय को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। भाव की यह सत्ता जो हमारे मन में बनी होती है उसमें किसी प्रकार का व्यवधान मन स्वीकार नहीं कर पाता, व्यवधान आते ही हम उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं, क्योकि हमारी मानसिक स्थिति भाव की समतल भूमि पर बनी होती है और उसके प्रतिकूल किसी प्रकार की व्यंजना होने पर मन में अन्यथा भाव जागृत होते हैं जो हमारे मन की भाव की सत्ता के साथ मेल नहीं खाते। किसी भी भाव की सत्ता चिरस्थायी नहीं होती, आनंद और विषाद दो भिन्न-भिन्न तत्त्व अवश्य हैं किन्तु किसी विशेष मीनसिक स्थिति में दोनों तत्त्वों का ऐसा रासायनिक समिश्रण होता है हम दोनों तत्त्वों को अलग नहीं कर सकते। भावों का योग गणित की क्रिया से नही होता यह तो रासायनिक योग होता है। किसी प्रिय व्यक्ति या वस्तु के वियोग से पीड़ा होती है, परंतु उस वेदना की स्मृति से जो आनंद होता है उसे नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार वेदना से भिन्न आनंद का कोई अस्तित्व नही है। उस प्रकार सुख को प्राप्त करने के लिए अपेक्षित दुख को स्वीकार करना ही पड़ेगा। करूण रस में भी शोक को यही स्थान प्राप्त है। शोक वास्तव में अधिक व्यापक भाव है, जो भाव अधिक तीव्र, अधिक स्थायी और अधिक व्यापक है वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही कारण है कि शोक का प्रभाव अन्य भावों से कही ज्यादा प्रभावित करने में सक्षम होता है।

## (आ) (क) वेदना की काव्यगत परंपरा

हिन्दी साहित्य में वेदना का वर्णन किसी न किसी रुप में सदैव से होता रहा है। काव्य में वेदना को सर्वाधिक महत्व दिया गया है चाहे वे आदिकाल के कवि रहे हों या आधुनिक काल के, हर काल के कवियों में वेदना किसी न किसी रुप में विद्यमान है। वेदना के स्वरुप में परिवर्तन अवश्य हुआ है लेकिन मूल भाव लगभग सभी काल में एक सा ही है। काव्य में वेदना का महत्व सर्वाधिक है काव्य की व्युत्पत्ति ही वेदना से हुई होगी ऐसा कवि पंत का मानना है -

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
बह कर आँखों से निकली होगी कविता अनजान।।" - (पंत)

कविता में वेदना और उस वेदना का रसास्वादन कविता को और अधिक रसात्मक बनाता है -

*"Our sweetest songs are those that tell of the saddest thought"*
*- P.B. Shelly(To a Skylark)*

स्पष्ट है कि काव्य में वेदना का महत्व है और इस परंमपरा का निर्वाह प्रायः सभी काल के कवियों ने किया है। अगर हम हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर नजर ड़ालें तो यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि उस काल की रचनाओं का मूलाधार राजाश्रय था, जहाँ चारण या भाट कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रसंशा की। उनका वर्णन-विषय एक राजा दूसरे राजा के साथ युद्ध, प्रेम प्रसंग तथा आश्रयदाताओं की वीरता का अतिरंजित वखान करना मात्र था। इनके प्रेम वर्णन में वियोग श्रृंगार के भी उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें वेदना की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। रासो साहित्य इसका स्पष्ट उदाहरण

है। आदिकाल के लौकिक साहित्य में भी कवियों ने लौकिक विषयों पर स्वच्छन्द धारा की काव्य रचना की है। विरह के विभिन्न रुप, विरहणी नायिका के द्वारा प्रियतम के पास संदेश प्रेषण आदि वर्णनों में वेदना का ही रुप सामने आता है। विद्यापति के अधिकतर पद श्रृार के हैं जिनमें विप्रलभ्भ श्रृगार भी है, स्पष्ट है कि विप्रलभ्भ श्रृगार में वेदना की ही अभिव्यक्ति होती हुई देखी जा सकती है। विद्यापति ने अपने काव्यों की रचना श्रृगारिक रुप में ही की है भक्त के रुप में नहीं। इस सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है - "अध्यात्मिक रंग के चशमे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के उन पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाललीला के पदों का वे क्या करेंगें। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रुप में लीलाएँ वर्णित हैं उसी रुप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रुप में वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं, जहाँ वृन्दावन, जमुना, निकुंज, कदंब, सखा गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रुप में हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।"5 विद्यापति के पदों में विरह वेदना स्पष्ट परिलक्षित होती है --

"कालि कहल पिय साँझहि रे, जाईबि मय मारु देस।
मोय अभागिलि नहिं जानल रे, संग जईतवँ जोगिनी बेस।।
हिरदय बड़ दारुन रे, पिया बिनु बिहरी न जाइ।
एक सयन सखि सूतल रे, अछल बलभ निसि भोर।
न जानल कत खन तजि गेल रे, बिछुरल चकवा जोर।
सूनि सेज पिय सालइ रे, पिय विनु घर मोए आजि।
बिनती करहु सुसहेलिन रे, मोहि देहि अगिहर साजि।।
विद्यापति कवि गावल रे, आवि मिलत पिय तोर।
लखिमा देइ बर नागर रे, राय सिवसिंह नहिं भोर।।" 6

-----विद्यपति पदावली

यहाँ विरहणी की विरह वेदना को ही विद्यापति स्पष्ट करते हैं, प्रिय के वियोग में विरहणी की जो दारुन अवस्था है, उसमें वह जल रही है और इस जलन से मुक्ति के लिए मौत की कामना करना उसकी वेदना का चरम उत्कर्ष है।

कबीर के काव्यों में जो वेदना है, जो विरह है वह राम के प्रति है किन्तु विरह वेदना की पीड़ा से वे इतने विह्वल हो जाते हैं कि कह उठते हैं - "यह तन जारौ मसि करौ ज्यों धुआँ जाई सरग्गि।" कबीर का यह कहना उनकी वेदना की गहराई को स्पष्ट करता है। साथ ही कबीर का काव्य जन-सामान्य के निकट रहा इस कारण भी उनके काव्यों में वेदना देखी जाती है, जन-सामान्य के दुखों से दुखी होकर ही उन्होंने तीखे दंश और प्रखरता का मार्ग चुना और राम के शरण में जाने की सलाह दी। जब वे कहते हैं - अब मोहि राम भरोसो तेरा तो यह मानकर ही कि राम ही सभी दुखों से मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं।

सुफियों की वेदना ईश्वर के विरह से है। और यह विरह वेदना उनकी प्रधान सम्पत्ति है, जिसके बिना साधना के मार्ग में कोइ प्रवृत्त नहीं हो सकता। जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा का आभाष अनेक रुपों में पड़ता है। उसे संसार के सभी व्यापारों में उसी परमात्मा का विरह प्रकट होता हुआ दिखता है। यह भाव प्रेम मार्गी सम्प्रदाय के प्रायः सभी कवियों में मिलता है। जायसी के काव्य में इसी विरह वेदना की तीव्रता देखी जाती है जो लौकिक है यह काव्य फारसी की मनसवी शैली पर है। मनसवी में मुख्य रुप से विरह के कथानकों को काव्य के रुप में पिरोया जाता है।

रामभक्ति साखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध काव्यग्रंथ श्री रामचरितमानस में जीवन के सभी पहलुओं को उजागर किया है। वेदना की अभिव्यक्ति भी इस ग्रंथ में यथास्थान अत्यंत मार्मिक ढ़ंग से हुई है। राम के वनगमन के पश्चात राम के

वियोग में दशरथ का प्राण त्याग करना और रानियों तथा दासियों का विलाप काव्य में करुण रस की अभिव्यक्ति करने में पूर्णतः सफल हुआ है -

"राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर विरह राउँ गयउँ सुरधाम।।" 7

**********

"शोक विकल सब रोवहि रानी। रुपु शीलु बलु तेजु बखानी।
करहि विलाप अनेक प्रकारा। परहि भुमितल बारहिबारा।।
बिलपहि विकल दास अरु दासी। घर घर रुदनु करहि पुरवासी।
अँथयउ आजु भानुकूल भानू। धरम अवधि गुन रुप निधानु।।"8

रावन द्वारा सीता हरण के बाद राम का वियोग में व्यथित होना और उनके कारुनिक विलाप को तुलसीदास ने इतनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है कि इस प्रसंग को पढ़ते हुए पाठक भावविभोर हुए बिना नहीं रह सकता -

"लक्षिमन समुझाए बहु भाँति। पूछत चले लता अरु पाति।
हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम्ह देखी सीता मृग नैनी।।" 9

राम का लता पत्तों और पक्षियों से सीता का पता पूछना उनकी भावविह्वलता को स्पष्ट करता है। जब दुख गहन और घनीभूत होता है तो मनुष्य की ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसे यह भी भान नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है, सीता के वियोग में गोस्वामी जी ने राम की इसी स्थिति को चित्रित किया है। उधर रावन की वाटिका में सीता का विरह विलाप पाठक के हृदय को बेधने में सफल हुआ है -

"त्रिजटा सन बोली कर जोरी। मातु विपत्ति संगिनि तै मोरी।
तजौ देह करु वेगी उपाई। दुसह विरहु अब नहि सहि जाई।।

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहु लगाई।।" 10

इसी तरह लक्ष्मण के शक्ति लगने के अवसर राम का विलाप अत्यंत कारुणिक बन पड़ा है। राम को वे दृश्य याद आते हैं कैसे उनके पुकारने पर लक्ष्मण दौड़े आते थे, उनके हर आदेश का पालन करते थे।लेकिन वही भाई बार-बार पुकारने पर भी क्यों न उठ बैठता। भाई के बिना राम की दशा का अत्यंत मार्मिक वर्णन कवि ने किया है -

"सुत वित नारी भुवन परिवारा। होहि जाहि जग बारहि बारा।
अस विचारी जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।।
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना।।
अस मम जिवन बंधु बिनु तोहि। जौ जड़ दैव जिआवै मोहि।
जैहउँ अवध कवन मुँह लाइ। नारी हेतु प्रिय भाई गवाई।।" 11

काव्य में वेदना की यह परंपरा सूरदास में भी मिलती है बल्कि सूर का विरह-वर्णन तो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान रखता है। उनके काव्य में वियोग शृंगार का इतना विस्तृत और अनूठा वर्णन है जो अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण के मथुरा चले पर गोपियों का जो विरह सागर उमड़ा है उसका वर्णन सूरदास ने इतनी सजीवता से किया है कि गोपियों की वेदना पाठक के हृदय में मूर्त रुप धारण कर लेती है। वियोग में जितनी की दशाएँ हो सकती है, सबका समावेश सूरदास के भ्रमरगीत में हुआ है। गोपियों की वेदना की स्थिति और भी भयानक हो जाती है जब वे कृष्ण के साथ होने और उनके बंशी बजाने के दृश्यों को याद करती हुई विलाप करती हैं -

"एहि बेरियाँ बन ते चली आवते।
दूरहिं ते वह बेनु,अधर धरि बारंबार बजावते।" 12

कभी वे अपने नीरस जीवन से मेल न होने के कारण वृंदावन के हरे भरे पेड़ों को कोसती हैं। विरह की स्थिति में ये रमणीय दृश्य उनकी वेदना को और अधिक उदीप्त करते हैं -

"मधुवन तुम कत रहत हरे,
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।।
तुम हौ निलज लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।।
ससा स्यार औ बन के पखेरु धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे
बन में, काहे न उकठि परे" 13

**********

"बिनु गोपाल  बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लतायें लगती अति शीतल, अब भई विषम ज्वाला की पुँजे।।
व्रथा बहति यमुना, खग बोलत वृथा कमल-फुलनि अलि गुंजें।"14

सुरदास ने विरह की अवस्थाओं का वर्णन करने के लिए गोपियों को माध्यम बनाया है और ये गोपियाँ कृष्ण के विरह में संतप्त होकर अपनी सुध-बुध खो बैठती हैं आथवा जब वे अपनी सुध में रहती हैं तब भी इन दोनों ही अवस्थाओं में उन्हें विरह के ताप में जलना पड़ता है। गोपियों की दशा वैसी ही होती है जैसे जब कोई कीड़ा लकड़ी के भीतर रहता है और उस लकड़ी के दोनो सिरों पर आग लगी हो -

सुनौ स्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहनी कैसे कै जो सहै।।
जब राधे, तब ही मुख माधौ-माधौ रटती रहे।
जब माधौ हवै जाति सकल तनु राधा बिरह दहै।।

उभय अग्र दव दारु कीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै।। 15

जब उद्धव गोपियों से यह कहते हैं कि गोपियों को अपना मन इश्वर में लगाना चाहिए गोपियाँ कहती हैं -

"ऊधौ मन भए न दस-बीस।
एक हुतौ सौ गयौ स्याम संग, को अबरादै ईस।।
इन्द्री सिथिल भई केसव बिनु ज्यौं देही बिनु सीस।"16

"निसि दिन वरषत नैन हमारे।
सदा रहति बसषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे।"17

सूरदास ने विरहाकुल गोपियों और ब्रजवासियों का ही वर्णन नहीं किया अपितु ब्रज के पशु पक्षियों को भी विरह की आग में जलते हुए चित्रित किया है -

"ऊधौ इतनी कहियों जाइ।
अति कृशगात भइ तुम बिनु परम दुखारी गाइ।
जल समूह बरसति दोउ अखियाँ हूँकति लीने नाउं।
जहाँ-दहाँ गो दोहन कीन्हौ सूँघति सोई ठाउँ।।
परति पछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।"18

मीराबाई कृष्ण भक्ति शाखा की अन्यतम कवियित्री हैं। "उनके जीवन की गाथा इतनी व्यथा-सिक्त और प्रेम भावना ऐसी सहज और मर्मस्पर्शी है कि उनके सम्पर्क में आनेवाले की पत्थर की आँखे होगी तब भी भर आयेंगी।"19 मीराबाई जब कहती हैं,"मेरो दरद न जाने

कोय" तब उनकी पीड़ा का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है, वह भी तब जबकि एक राजकुमारी होने के नाते उनके चरणों में संसार का सारा वैभव बिखरा पड़ा हो। मीरा के पदों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रीति बेली को आँसुओं के जल से सींचा था। मीराबाई की विरह भावना का कोई ओर छोर नहीं -

"बिरहणी बाबरी सी भई।
ऊँची चढ़ी अपने भवन में टेरत हाय दई।
ले अँचरा मुख पोछत उघरे गात सही।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बिछुरत कछु न कही।" 20

वेदना की यह परंपरा रीतिकाल में भी विद्दमान रही। रीतिकाल में मुख्य रुप से शृंगारिक रचनाएँ हुई और इस कारण वियोग श्रृंगार का अतिशय वर्णन हुआ है। बिहारी के दोहों में विरहताप, विरह की क्षीणता आदि का वर्णन ऐसे हुआ है कि कहीं-कहीं वस्तुव्यंजना की सीमा का उलंघन करके खेलवाड़ के रुप में हो गई है --

"सीरे जतननि सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि तनताप।
बसिबै को ग्रीषम दिनन, परयो परोसिनि पाप।।
आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस कै के नेहबस, सखी सबै ढ़िग जाति।।" 21

घनानन्द के काव्य में भी विषाद और वेदना की अभिव्यक्ति हुई है, यह वेदना उनके प्रेम की पराजय के कारण है। उनके भाग्य में प्रेम का हर्ष नहीं है विषाद की यही अनुभूति घनानन्द को फारसी परंपरा के समकक्ष खड़ा कर देती है। वियोग व्यथा की सैकड़ों अन्तर्दशाओं के मार्मिक चित्र कवि ने खीचें हैं। प्रेम की पीड़ा को कवि ने सच्चे हृदय से अपनी पूर्णता में भोगा था, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति सटीक और मार्मिक हुई है। व्यक्तिगत प्रेमानुभूति से विह्वल आलम के काव्य में भी यह विषाद वैसा ही मार्मिक है जैसा घनानन्द

का। आलम वियोग में थके, बिके एवं जीवन का दाँव हारे हुए से लगते हैं।

भारतेन्दु युग तक आते आते काव्य का क्षेत्र विस्तृत होता चलता है इस युग में वेदना का विषय सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि क्षेत्रों में देखा जाने लगा। परिवार, समाज और देश की क्रमशः बढ़ती हुई दीनवस्था के चित्रण की ओर कवियों की वाणी अनायास करुणा से भीग उठी -

"रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।" 22

द्विवेदीकालीन कविताओं में भी राष्ट्रीयता का स्वर व्यापक है और देश की दुर्दशा का चित्रण कवियों ने किया है। आलस, फूट, खुदगर्जी, मिथ्या आदि अभिशापों की ओर इन कवियों का ध्यान गया है। देश की आर्थिक विपन्नता, सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ प्रथाओं तथा आडम्बरों से कवि व्यथित दिखाई देता है। दीन-हीन कृषक तथा विधवा के दुखों का भी बड़ा कारुणिक वर्णन इस काल के कवियों ने किया है।'गुप्तजी' की 'किसान'(1917), 'सियारामशरण' की 'अनाथ'(1917) तथा सनेही जी की कृषक क्रन्दन कृषक जीवन सम्बन्धी प्रभावी रचनाएँ हैं। 'शंकर' कृत 'गर्भरणडा रहस्य' में जन्म से पहले ही विधवा हो जाने वाली विधवाओं के कष्टमय जीवन का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। मानव सुलभ सहानुभूति और वेदना ही इस प्रकार की कविताओं की प्रेरक भावना है। द्विवेदीयुग की इसी विचारधारा को लेकर छायावादी काव्य भी आगे बढ़ा, छायावाद भी द्विवेदीयुग की तरह जन सामान्य के निकट रहते हुए उसके दुख-द्वन्द को व्यक्त करता है, साधारण जन की व्यथा से व्यथित कवि के काव्य में जन-सामान्य की वेदना की ही अभिव्यक्ति हुई है। 'जयशंकर प्रसाद' का 'आँसू'(1925) का आरंभ ही कवि की विरह वेदना की अभिव्यक्ति से हुआ है --

"इस करुणा कलित हृदय में

अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकर स्वरों में
वेदना असीम गरजती।" 23

इसके अंत में उन्होंने यह छंद दिया है -

"सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सुखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकण सा
आँसू इस विश्व सदन में। 24

स्पष्ट है कि कवि ने आरंभिक व्यक्तिगत वेदना को भूलकर अन्त में आँसू को विश्व कल्याण की भावना के साथ सम्बद्ध कर दिया है। महादेवी के विविध गीतों में व्यथा, पीड़ा, आशा अज्ञात प्रिय के प्रति प्रणय निवेदन किया है, किन्तु उनका प्रणय दुःख प्रधान है। वे प्रिय मिलन की कामना नही करती क्योंकि मिलन में तो व्यक्तित्व का ही नाश हो जाता है। "मिलन का मत लो नाम मैं विरह में चिर हूँ।" महादेवी का यह दुखवाद निराशा या अकर्मण्यता का व्यंजक नहीं है, उनकी वेदना की तुलना प्रसाद के 'आँसू' काव्य के अन्त में दिखाई देनेवाली करुणा की अनुभूति से की जा सकती है। महादेवी ने दुख को केवल व्यक्तिगतजीवन के सन्दर्भ में स्वीकार किया है। अपनी पीड़ा का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है - "अमरता उसमें मनाती है अमर त्योहार।" उनका दुखवाद किसी सीमा तक समाज की भावना से सम्पृक्त है। उन्हें दुख से मुक्ति न मिले और वे या तो नीर भरी दुख की बदली बन कर संसार के दग्ध हृदय को शांत करने के लिए बरसती रहें या फिर दीप की भाँती तिल-तिल जल कर जग को आलोक प्रदान करती रहें -

दीप मेरे जल अकंपित,

घुल अचंचल।
पथ न भूले, एक पग भी
घर न खोये, लघु विहग भी
स्निग्ध लौ की तूलिका से
आँक सबकी छांह उज्जवल।25

.....

नित घिरुँ झरझर मिटू प्रिय।
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय।26

बौध दर्शन से प्रभावित महादेवी की वेदना भाव मात्र न होकर एक प्रकार की साधना बन जाती है , जो निर्वाण में सहायक होती है। उन्होंने अपनी वेदना को संसार की वेदना में मिलाकर असीम में व्याप्त हो जाना चाहा है। 'हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सके, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख तो अकेला भोगना चाहता है, परंतु दुख सबको बाँटकर विश्व जीवन में अपने जीवन को विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है।'27

वेदना की परंपरा जो संस्कृत साहित्य से शुरु हुई थी वह आधुनिक काल तक समान रुप से विद्दमान है। काव्य का मूलाधार वेदना है वेदना से ही काव्य की उत्पत्ति हुई और काव्य से वेदना को पृथक् करना उतना ही कठिन है जितना रासायनिक सम्मिश्रण को एक दूसरे से अलग करना। वेदना मानव जीवन की सच्ची और स्वभावि प्रवृति है और काव्य समाज का संचित प्रतिबिम्ब होता है इस नाते काव्य में वेदना की अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता।

## (ख) वेदना का करुण रस में घनीभूत होना।

वेदना एक दुखात्मक भाव है। और वेदना दो स्तर की होती है - सामान्य स्तर की और आन्तरिक स्तर की गहरी वेदना। सामान्य स्तर की वेदना में मनुष्य सम्भल सकता है और कुछ समय बाद उस दुखद स्थिति से निकलने में सफल होता है। किन्तु अगर वेदना आन्तरिक हो तो वह व्यक्ति को तोड़ देती है। स्थायी भाव शोक जब बहुत गहरा और आन्तरिक हो, जब हृदय को पूर्ण रुप से आच्छादित कर ले, मन में और किसी तरह का भाव उत्पन्न न होने दे न कोई इच्छा शेष रह जाए तो करुण रस उत्पन्न होता है। वेदना की घनीभूत स्थिति में सुख की अभिलाषा तक समाप्त हो जाती है, मनुष्य मौत की कामना करने लगता है। शोक नामक स्थाई भाव तब उत्पन्न होता है जब दुख होता है। यह दुख भी मन की प्रतिकूल परिस्थिति से उत्पन्न होता है।

किसी प्रिय वस्तु या व्यक्ति का अभाव हो जाने से शोक होता है। इसके परिणाम स्वरुप उस व्यक्ति या वस्तु से सम्बन्धित घटना एक-एक करके सामने आने लगती है और हृदय को अन्दर से व्याकुल कर देती है। आश्रय में कुछ भी समझने और बोलने की शक्ति शेष नही रहती शरीर कृशकाय हो जाता है, भूख प्यास का भी ध्यान नहीं रहता है, साधारण सा दुख भी पहाड़ सा प्रतीत होता है, वह जिस मानसिक स्थिति में रहता है उसी में बने रहने की चेष्टा करता है और अन्य तरह के भाव उसे और भी सालने लगते हैं वह झुँझला उठता है। वेदना जब बहुत अधिक हो, सहन शक्ति समाप्त हो जाए तो करुण रस की स्थिति होती है।

जब मनुष्य में सम्बन्धज्ञान होने लगता है तभी से उस पर दुख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहा जाता है। जब बच्चे माँ को रोते हुए देखते हैं तो स्वयं भी रोने लगते हैं, ऐसा इसलिए की मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि जब वे दूसरों के दुख को देखते हैं तो स्वयं भी उस दुख का अनुभव करते हैं। किसी और के दुख को देख कर

दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना किसी को सुखी देखकर सुखी होने का नहीं।

करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में वेदना के अतिरिक्त और किसी विशेषता की आवश्यकता नहीं होती और यह वेदना जब घनीभूत हो तो करुण रस की प्राप्ति होती है -

जो घनीबूत पीड़ा थी मस्तिष्क में छाई,
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई।"28

कवि की वेदना घनीभूत होकर रस दशा को प्राप्त होती है। आँसू की बरसना वेदना की असहनीयता को पुष्ट करता है।

### (इ) हिन्दी काव्य में वेदना का स्वरुप और स्थिति।

हिन्दी काव्य में वेदना तो सदा से रही यह स्पष्ट हो चुका, इसके स्वरुप में भिन्नता अवश्य देखी जाती है। हिन्दी काव्य में वेदना तीन प्रकार से आई है -

(क) काव्य की परम्परा के परिणाम स्वरुप।

(ख) सम-सामायिक परिस्थितियों के कारण।

(ग) कवियों के अपने निजी दुख और परिस्थितियों के कारण।

काव्य की परम्परा वेदना की रही है और इसी परम्परा के निर्वाह के लिए कवियों ने अपने काव्य में वेदना को स्थान दिया है। कवि समाज में रहता है और उस पर सम-सामायिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है यह प्रभाव अनुकूल भी हो सकता है और

प्रतिकूल भी। अनुकूल परिस्थिति में हर्ष और प्रतिकूल परिस्थिति में विषाद उत्पन्न होता है। प्रस्थितियों की प्रतिकूलता से व्यथित कवि अपनी वेदना की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से करता है। कवि कवि होने के साथ-साथ साधारण मनुष्य भी होता है जिसके निजी जीवन में दुख आता जाता रहता है, उसके अपने उस का प्रभाव भी काव्य में देखा जा सकता है।

आदिकाल में वेदना का मुख्य स्वरुप नायक-नायिका का वियोग है। दरबारी कवियों ने वेदना के इसी स्वरुप को अपने काव्य में स्थान दिया है। आश्रयदाताओं की अतिशय प्रसंसा के साथ-साथ उनके विलास के लिए शृंगार रस का समावेश करना उनकी प्रवृत्ति थी। शृंगारिक काव्य में संयोग के साथ-साथ वियोग का भी वर्णन हुआ है और इस तरह के वियोग वर्णन में वेदना देखी जाती है। यहाँ वेदना का स्वरुप लौकिक वेदना है, जिसका मुख्य आलंबन नायक-नायिका हैं। अपभ्रंश साहित्य में वियोग की विभिन्न दशाओं का वर्णन मिलता है, जिसमें वियोगिनी नायिका की वेदना को इस काल के कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया है। सन्देश-रासक एक खण्ड काव्य है जिसमें विक्रमपुर के एक वियोगिनी के विरह की कथा है। कवि ने उसका नख-शिख वर्णन तथा पति के लिए संदेश अत्यंत सहज भाव-भूमि पर चित्रित करके काव्य को मार्मिक बना दिया है। "आदिकालीन हिन्दी साहित्य में शृंगार रस की एक धारा इसी प्रकार की अपभ्रंश कृतियों के अनुकरण पर बह निकली, जो भक्तिकाल में होती हुई रीतिकाल में जाकर प्रधानता प्राप्त कर सकी। " 29 कुल मिलाकर इस काल में वेदना का स्वरुप नायक नायिका के विरह पर अवलंबित है।

भक्तिकाल में वेदना का स्वरुप आदिकालीन साहित्य से भिन्न है, विरह की वेदना यहाँ भी है किन्तु यहाँ इश्वर के विरह में कवि व्यथित दिखाई देता है। वियोग की वेदना सीत्विक और इश्वरीय है। निर्गुण और सगुन दोनों धाराओं के कवियों में वियोग की वेदना है और यह वेदना इश्वर से वियोग के कारण है। कबीर, तुलसी, मीरा, सुरदास इन सबके काव्यों में जो वेदना है वह इश्वर से सम्बन्धित है। भक्तिकाल का कवि इश्वर के विरह में

व्यथित रहता है। "परम विरहाशक्ति भ्रमरगीत के काव्यों में बड़ी समीचीन शैली में व्यक्त हुई है। अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानन्ददास  तथा कुम्भनदास ने भी इस विषय पर पद लिखे हैं। प्रेमाशक्ति में विरह की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ से मिलती है।"30

रीतिकाल में शृंगारिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति के रुप में वियोग वेदना का वर्णन हुआ है। इस काल के अधिकांश कवियों की प्रेमानुभूति व्यक्तिगत है। प्रेम में असफल कवियों की उक्तियाँ ऐसे में  बड़ी मार्मिक बन पड़ी है। यहाँ वेदना का स्वरुप व्यक्तिगत है, प्रेमी की अपनी अभिलाषा है, पर उसका प्रिय निष्ठुर और कठोर ही बना रहता है। वियोग अनुभूतियों का प्रधान्य और भी बढ़ जाता है। उपमानों और अन्तर्दशाओं का ऐसा अनुभव करता चलता है कि पाठक भावमग्न हो जाता है। प्रेमी प्रिय में आशक्त उसके वियोग में व्यथा-पीड़ित, आतुर, सचिन्त और सकाम है, वह अपने प्रेम का निर्वाह करने में प्राणपन से प्रस्तुत है पर प्रिय इसके विपरीत उपेक्षक, अन्योन्मुख, सुख-चैन का ग्राहक, भुलक्कड़ और लापरवाह है। "प्रेमाख्यानक धारा ईसा की सत्रहवीं शती के मध्य साहित्य धरा पर अबाध रुप से प्रवाहित होती रही। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में प्रचुर प्रेमाख्यान लिखे गये। इन भाषाओं के साहित्य में प्रेममूलक आख्यान दो दृष्टियों से प्रविष्ट हुए थे --- एक किसी आध्यात्मिक तत्व की व्याख्या करने के लिए, दूसरे किसी प्रेम कथा के वर्णन के लिए।"31

आधुनिक काल में भारतेन्दु युग में आते-आते काव्य में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विषयों का समावेश हुआ और काव्य में वेदना का स्वरुप बदल गया। आम जनता के दुख दर्द को कवियों ने काव्य का विषय बनाया उसकी स्थिति में काव्य के माध्यम से सुधार लाने का प्रयत्न किया। इस युग की राजनीतिक और आर्थिक अवस्थाओं से कवि सर्वाधिक व्यथित दिखाई देता है। यह युग नवजागरण का युग था, राष्ट्रीयता का स्वर इस युग में अपने चरमोत्कर्ष पर था। अतीत के गौरव का गुणगान और अपने को पहचानने तथा पाश्चात्य बन्धनों से छुचकारा पाने का साहित्य है। भारतेन्दु युग में कवियों

ने सामान्य जनता और सामाजिक अवस्था की उपेक्षा न करके जनता की समस्याओं के निरुपण की ओर ब्यापक रुप में पहली बार ध्यान दिया। नारी की दुर्दशा, नारी शिक्षा, नारी मुक्ति, विधवाओं की दुर्दशा, अश्पृश्यता आदि को विषय बना कर सहानुभूतिपुर्ण कविताएँ लिखी गई।

द्विवेदीयुग में कविता के वर्ण्य विषय में विस्तार हुआ। जीवन के हर क्षेत्र और हर सम्भव विषय पर कविता लिखी गई। भावपूर्णता भी उस काल के काव्य में देखी जाती है, गुप्त जी के काव्य में यशोधरा का वियोग, या उर्मिला के वियोग में सामान्य जीवन परिस्थितियों  की वेदना का ही वर्णन हुआ है। छायावादी काव्य में वेदना का स्वरुप रहस्यानुभूति और व्यक्तिकता है। छायावादी कवियों ने प्रधान रुप से प्रणय की अनुभूति को व्यक्त किया है। उनकी कविताओं में प्रणय से सम्बद्ध विविध मानसिक अवस्थाओं का - आशा, आवेग,आकुलता, तल्लीनता, निराशा, पीड़ा, अतृप्ति, स्मृति, विषाद आदि का अभिनव एवं मार्मिक चित्रण मिलता है। छायावादी काव्य की अनुभूति केवल मन के स्तर पर ही नही रहती बल्कि उससे कही गहरी उतरती चली जाती है। छायावादी काव्य मानव कल्याण की भावना से प्रेरित है, इसलिए यहाँ कवियों की व्यक्तिगत करुणा और निराशा ही विश्व प्रेम का रुप धारण कर लेती है। कवि संसार भर की वेदना को खुद स्वीकार करके संसार को सुखी बनाना चाहता है। प्रगतिवादी काव्य में आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन करने के लिए काव्य में वेदना समाहित हुई किन्तु यहाँ वेदना करुण रस की ओर प्रस्थान न करके आक्रोश और घुटन के रुप में अभिव्यक्त होती है।

हिन्दी काव्य में वेदना का स्वरुप और स्थिति कालक्रम के अनुसार हर युग में भिन्न-भिन्न है। हर युग के कवियों ने वेदना को अपने-अपने ढ़ंग से अभिव्यक्त किया है। तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के अनुसार काव्यों में वेदना के स्वरुप और स्थिति में क्रमशः  परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है।

संदर्भ सूची-

1) डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु - जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत-ज्ञानपीठ प्राइवेट लि. पटना-4, 1964, पृ. 4

2) डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु - जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत-ज्ञानपीठ प्राइवेट लि. पटना-4, 1964, पृ. 5

3) रस सिद्धांत - डॉ. नगेन्द्र, पृ. 216

4) डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु - जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत-ज्ञानपीठ प्राइवेट लि. पटना-4, 1964, पृ. 51

5) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2054, पृ. 32

6) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2054, पृ. 32, 33

7) गोस्वामी तुलसीदास - श्री रामचरित मानस, गीताप्रेस गोरखपुर - संवत् 2051, पृ. 314

8) गोस्वामी तुलसीदास - श्री रामचरित मानस, गीताप्रेस गोरखपुर - संवत् 2051, पृ. 315

9) गोस्वामी तुलसीदास - श्री रामचरित मानस, गीताप्रेस गोरखपुर - संवत् 2051, पृ. 328

10) गोस्वामी तुलसीदास - श्री रामचरित मानस, गीताप्रेस गोरखपुर - संवत् 2051, पृ. 468, 469

11) गोस्वामी तुलसीदास - श्री रामचरित मानस, गीताप्रेस गोरखपुर - संवत् 2051, पृ. 534

12) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2054, पृ. 93

13) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2054, पृ. 93, 94

14) सं. रमेशचन्द्र कुलश्रेष्ठ, काव्य सौरभ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, नवीन संस्करण, पृ. सं. 35
15) सं. वेंकटेश्वर - सुरदास, पृ. 564
16) सं. रमेशचन्द्र कुलश्रेष्ठ, काव्य सौरभ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, नवीन संस्करण, पृ. सं. 34
17) सं. रमेशचन्द्र कुलश्रेष्ठ, काव्य सौरभ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, नवीन संस्करण, पृ. सं. 35
18) सं. रमेशचन्द्र कुलश्रेष्ठ, काव्य सौरभ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, नवीन संस्करण, पृ. सं. 37
19) जगदीश गुप्त - महादेवी वर्मा, साहित्य अकादेमी 2008, पृ. 109
20) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2054, पृ. 89
21) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2054, पृ. 137
22) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2054, पृ. 320, 321
23) जयशंकर प्रसाद (आँसू) 1925
24) जयशंकर प्रसाद (आँसू) 1925
25) दीप शिखा , श्रीमति महादेवी वर्मा, भारती भंड़ार, इलाहावाद, नवा संस्करण, पृ. 64
26) नीरजा, श्रीमति महादेवी वर्मा, भार्गव प्रेस इलाहाबाद , सप्तम आवृत्ति, पृ. 46
27) रश्मि, श्रीमति महादेवी वर्मा, साहित्य भवन इलाहाबाद, सप्तम आवृत्ति, पृ. 7, 8
28) जयशंकर प्रसाद (आँसू) 1925
29) संपादक - डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1976, पृ. 76
30) संपादक - डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1976, पृ. 219
31) संपादक - डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1976, पृ. 225